© 2020 | International Journal of Scientific Research in Science and Technology
IJSRST | Volume 7 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X

मिथिला की कला का समाज पर प्रभाव

विजय कुमार मिश्रा
S/o- बैद्यनाथ मिश्र
ग्राम–लदारी, पो0–समैला लालगंज
भाया–केवटी, जिला–दरभंगा, बिहार

सार :

मिथिला प्राचीन काल से ही सनातन धर्म का उन्नायक रहा है। धार्मिक भावना से जुड़े रहने के कारण मूर्तरूप की पूजा करते थे, इस हेतु लोकप्रिय देवी–देवताओं के मूर्तियों की काफी मांग थी। साथ ही मूर्ति निर्माण वेशकीमती पदार्थों से अलंकृत ढ़ंग से होता था। काले पत्थर की मूर्ति भी बनाई जाती थी। मूर्तियों के लिये सिमराऊँगढ़ श्रेष्ठ था। नान्यदेव के उद्भव से पहले ही मिथिला में मूर्ति पूजा एवं उनका निर्माण काफी महत्व प्राप्त कर चुका था यथा कमलादित्य मूर्ति अंधराठाढ़ी (मधुबनी), सूर्य मूर्ति बरौनी, सूर्य मूर्ति कन्दाहा (सहरसा) सतरवाड़ से करीब 3–4 कि. मी. उत्तर जहां हरिसिंहदेव के कई अभिलेख भी मिले हैं तथा सूर्य मंदिर के गेट पर काले पत्थर पर लिपि उत्कीर्ण है जो अभी तक पढ़ी नहीं जा सकती है, सूर्य मूर्ति जयमंगलागढ़ वशिष्ठाराधिता तारा मूर्ति महिषी (सहरसा), तारामूर्ति (वैशाली) आदि। दुर्गा काली, सरस्वती आदि पूजा के अवसर पर भी मिथिला में मिट्टी के अनेक कलात्मक मूर्तियाँ बनायी जाती थी।

शब्द कुंजी : कला, संस्कृति, शुभ संस्कार, यज्ञोपवीत, चूड़ाकरण, विवाह आदि।

प्रस्तावना

कला मिथिला की एक विशिष्ट पहचान रही है। चूँकि मिथिलावासी कला के प्रेमी रहे हैं। यहाँ के प्रायः सभी जातियों के विभिन्न कला के प्रति अभिरूचि रही है। मिथिला के ब्राह्मणों एवं मैथिल कायस्थों की संस्कृति का एक अंग चिन्हकला है। घर–द्वार, बरतन–बासन, बेना–पंखा, दौरी–मौनी, डगरा–सूप आदि सभी वस्तुओं तथा पूजा–अर्चना की पद्धतियों में जहाँ देखे वहीं ललित चित्र–कला का विकास मिथिला के ब्राह्मण एव कायस्थ परिवारों में अनन्त काल से आज तक लक्षित होता रहा है। यज्ञोपवीत, चूड़ाकरण, विवाह आदि सभी शुभ संस्कारों के समय घर–द्वारों को चित्रकारी से सजाना मिथिला की परिपाटी थी और वह अब भी है। इन अवसरों पर कलशों, बाँस अथवा मूँज व सींक की बनी दौरे–दौरियों पर नाना प्रकार के रंगों से चित्र–चित्रण किया जाता था, तथा अब भी यह प्रथा प्रचलित है। दौरियों और पंखों को कोमल कोढ़िला को छुरियों के द्वारा छीलकर पतली परत से छानकर उन पर रंग–विरंग की चित्रकारी करने की प्रथा प्रचलित थी और आज भी है। सौभाग्यशाली शिशुओं के जन्म लेने पर ब्राह्मणों के द्वारा उनकी जन्मपत्रियाँ ज्योतिष की गणना के अनुसार प्रस्तुत करवाने तथा यज्ञोपवीत–विवाह आदि शुभ संस्कारों के समय कायस्थों द्वारा आमंत्रण–पत्र लिखवाने की परिपाटी थी। इस प्रकार के टीपनों एवं पत्रों पर क्रमानुसार ब्राह्मण तथा कायस्थ देवताओं, वृक्ष–लताओं, मांगलिक पशु–पक्षियों आदि के मनोहर आलेख्य अंकित कर उन्हें नेत्राभिराम बनाते थे। यह प्रथा आज भी प्रचलित दीख पड़ती है। विवाह संस्कार के काल में वर के मस्तक पर धारण करनेवाला मौर कोढ़िला का बना होता था। उस पर भी सुन्दर चित्रकारी विशेषतया लाल रंग से की जाती थी। यह प्रथा भी मिथिला में अद्यर्प्यन्त प्रचलित परिलक्षित होती है।

यज्ञों में हवन–कुण्डों के चतुर्दिक् तंडुल–चूर्ण, सिन्दूर आदि से शास्त्र–विहित चित्रकारी की जाती थी। दीवारों पर अस्थायी चित्र बनाना घर–घर प्रचलित था। यज्ञोपवीत एवं विवाह के हेतु प्रस्तुत किया गया मण्डप भी अनेक प्रकार के मांगलिक चित्रों से चित्रित किया जाता था। कोहवर में भी स्त्री–पुरूष, देवी–देवता, लता–गुल्म, पशु–पक्षी, बाँस–केला आदि के चित्र प्रस्तुत कर उसे सुशोभित किया जाता था। दीवारों का लेवा प्रायः कच्ची मिट्टी का होता था। अतः उन पर बने चित्र स्थायी नहीं होते थे। विवाह के समय वर (दुल्हा) के माथे पर चन्दन लगाने में भी चित्र–कला का प्रदर्शन होता था, तथा उत्सव–यात्राओं में सम्मिलित होने वाले हाथियों के माथे पर भी कलापूर्ण सुन्दर चित्र बनाकर उन्हें सजाया जाता था।

चित्र–चित्रण की प्रथा चिरकाल से चली आती है, इसमें सन्देह नहीं है। पर वे चित्र कच्ची दीवार, कलश आदि पर बनाये जाते थे, जिनका स्थायी रहना संभव न था। यही कारण है कि मध्ययुग में की गयी दीवार आदि पर की चित्रकारी आज प्राप्य नहीं है। परन्तु यह निर्विवाद है कि मिथिला में सम्प्रति प्रचलित उपर्युक्त प्रकार की चित्रकारी की प्रथा अति पूर्वकाल से चली आ रही है। यह वहॉ की संस्कृति का एक अंग बन गया है। प्राचीन काल का किया गया चित्र–चित्रण बनने के बाद मिटता गया, पर वह प्रथा अद्यावधि मिट न सकी। उक्त परिपाटी के प्रचार का धार्मिक समारोहों के अवसरों पर अनिवार्य रूप से रूढ़ि का रूप धारण करना इस तथ्य का द्योतक है कि यह प्रथा मिथिला में अनादि काल से चली आ रही है। पुराकाल की ऐसी कोई चित्रकारी मिले अथवा न मिले, पर इसमें शंका का स्थान शेष नहीं रह जाता है कि उपर्युक्त ढ़ंग की चित्र–कला का व्यापक प्रचार मिथिला में मध्ययुग में भी था जिसका विवेचन हम यहाँ कर रहे हैं।[1]

उपर्युक्त प्रकार की चित्रकारी मिथिला की घरेलू कला थी, जिसका सम्पादन गृह–देवियों द्वारा होता था। उसके लिए बाहर से चित्रकारों को बुलाना नही पड़ता था। मंगलमय यज्ञों एवं संस्कारों के समय गृह–नारियाँ स्वतः कलाकार बनकर भित्तिचित्र उतारतीं तथा उपकरणों को भी चित्रित करती थीं। समारोह की समाप्ति के पश्चात् से पुनः अपने गृह–कार्य में लग जाती थीं। आनन्द–उत्सव–काल में यज्ञार्थ चित्रों का चित्रण करना तथा करवाना गृह–स्वामिनियों का परम कर्त्तव्य होता था। परिवार में जब कभी यज्ञ–उत्सव होता था तो घर की साधारण महिलाएँ कलाकार के रूप में दीवारों आदि पर पूर्व उल्लेखानुसार चित्र खींचती देखी जाती थीं। मिथिला की सुकुमारियों के लिए आनन्दोत्सवकाल में चित्रों का चित्रण करना उतना ही आवश्यक था, जितना साधारण स्थिति में घरों में झाड़ू लगाकर उन्हें साफ–सुथरा रखना तथा कुएँ पर जाकर पेय जल ले आना।

दीवारों पर चित्र बनाने के हेतु बाँस की पतली डाली के अग्रभाग को कुचलकर कूँची तैयारी की जाती थी। उसी कूँची से समतल दीवारों पर चित्रों का चित्रण किया जाता था। किसी रंग विशेष से दीवारों अथवा उपकरणों के बड़े भाग को रँगने अथवा पोतने के हेतु बॉस की डाली द्वारा निर्मित डंडी के अगले भाग में पटसन के रेशे बाँध कर अथवा उसमें कपड़ा लपेट कर पोतन प्रस्तुत किया जाता था, तथा उसी के द्वारा आवश्यक रंग दीवारों पर पोता जाता था। बाँस की बनी पतली कूँची से चित्र की रेखाओं का अंकन किया जाता था। वृत, अर्धवृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण आदि बनाये जाते थे। देब, मानव, पशु–पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदि के चित्र भी उसी बाँस की कूची से तैयार किये जाते थे। आवश्यक चित्रों के प्राक्कलन प्रस्तुत किये बिना ही चित्रों का चित्रण गृह–नारियाँ कूँची और रंगों की सहायता से कर लेती थीं। चित्रों को प्रस्तुत करने में लाल, गुलाबी, पीत, नील, हरित (सुग्गा पंखी) आदि रंगों की आवश्यकता होती थी। अजादुग्ध में रंगों को घोलने की परिपाटी थी। उजला रंग चावल के महीन चूर्ण जल में मिला कर प्रस्तुत किया जाता था। सिन्दूर अथवा गेरू का व्यवहार लाल रंग के लिए होता था। पुआल अथवा तृण–पत्तों को जलाकर उसके भस्म से काला रंग बनाया जाता था। इन्हीं रंगों को कहीं–कहीं अकेले और कहीं–कहीं आवश्यकतानुसार मिश्रित कर चित्र–चित्रण एवं रंगने के काम में लाया जाता था।

उल्लेखनीय है कि यज्ञों एवं संस्कारों के आनन्दोत्सव–काल में मिथिला के घरों में चित्र–चित्रण की परिपाटी थी और है भी। यज्ञोपवीत, कुलदेवता के स्थापना आदि काल में सीता–राम, राधा–कृष्ण, शिव–पार्वती, कालिका, दुर्गा, गणेश आदि देवी–देवताओं के आलेख्यों का चित्रण किया जाता था तथा विवाह, द्विरागमन आदि शुभ अवसरों पर सूर्य–चन्द्रमा, मत्स्य, कपोत, कच्छप, शुक, कदली, बाँस, कमल–पुष्प आदि के चित्र बनाये जाते थे। इन सभी प्रकार के चित्रों में कुछ न कुछ अर्थ निहित रहता था। देवी–देवताओं के चित्र बनाकर उनसे मंगल की कामना की जाती थी। इस प्रकार के चित्रों का अंकित करना शुभ–शकुन का प्रतीक माना जाता था। शुक, कपोत आदि दाम्पत्य–प्रेम के द्योतक माने जाते थे तथा सूर्य–चन्द्र आयु की वृद्धि करने एवं जीवन देने वाले समझे जाते थे। ब्राह्मण चित्र–शैली एवं कायस्थ चित्र–कला में सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर किंचित् अन्तर दृष्टिगत होता है। विद्वान् आर्चर महोदय ने मिथिला के ब्राह्मणों एवं कायस्थों के द्वारा बनाये गये चित्रों का

अध्ययन कर उनके चित्र प्रस्तुत करने की शैली का नामकरण 'मैथिल–चित्र–कला' में किया था। एलीफैण्टा और अजन्ता की गुफाओं की दीवारों तथा छतों पर एवं राजस्थान के अनेक भवनों में और अन्यत्र भी भित्ति–चित्रों का बाहुल्य है, पर उनसे मिथिला की चित्रकला की तुलना करने पर भिन्नता पायी जाती है। एलीफैण्टा एवं अजन्ता की गुफाओं की दीवारों के मिट्टी के पतले लेप पर सदियों के बने जल–चित्र आज भी नवीन दीख पड़ते हैं। वहीं दशा राजस्थान की भी है। पर मिथिला में वह बात नहीं है। वहाँ के भित्ति–चित्र दो–चार वर्षों में ही फीके पड़कर अन्त में अदृश्य हो जाते हैं। इसके कारण हैं। अजन्ता की गुफाएँ तो पहाड़ काटकर ही बनायी गयी है। दीवारों पर मिट्टी की पतली परत लगाकर उस पर चित्रकारी की गयी है। पर जड़ में प्रस्तर होने के कारण मिट्टी की तह तक नमी (आर्द्रता) नहीं पहुँचती है। इससे शदियों पूर्व के बने चित्र वहाँ अद्यावधि मिटे नहीं है। राजस्थान तथा अन्यत्र के भित्ति–चित्रों के स्थायित्व की जड़ में भी उपर्युक्त कारण ही है। किन्तु मिथिला का वातावरण विपरीत है। यहाँ के भवन विशेषतया कच्चे थे। पृथ्वी में आर्द्रता अधिक है। कच्ची दीवारों में नोनी भी प्रायः लगती हैं। इन कारणों से यहाँ के भित्ति–चित्र शीघ्र मुरझा कर विवर्ण हो जाते है, तथा अन्ततोगत्वा अदृश्य भी। पर इसमें सन्देह नहीं कि मिथिला की चित्रकारी की शैली अपनी है और वह अपने ढ़ंग की है।

कला और संस्कृति के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही मिथिला का नाम अद्वितीय रहा है। मिथिलांचल की लोक कला यहाँ की सांस्कृतिक लक्षण से अनुरंजित एवं दार्शनिक तथ्य से अनुप्रेरित होकर हमेशा प्रगति के मार्ग पर दृढ़ रही है। यहाँ की लोक कला में मिथिला चित्रकला, कसीदा, वस्त्र उद्योग, बाँस उद्योग एवं मूर्ति कला प्रसिद्ध है। लोक कला के माध्यम से इन छोटे–छोटे उद्योग धंधे का संचालन मानवीय श्रम की सहायता से कम पूंजी पर किया जाता है। मिथिलांचल के सीमावर्ती क्षेत्र के लोग जिन्हें बाढ़, सुखाड़ एवं अन्य प्राकृतिक आपदाओं का प्रकोप झेलना पड़ता है, वे अपने पूर्वजों से प्राप्त परम्परागत पेशा के रूप में लोक कला को अंगीकार किये हुए हैं। उन्हीं लोगों के द्वारा लोक कला के माध्यम से मिथिला का नाम दुनिया के कोने–कोने में फैल रहा है, जिसके साथ इन व्यवसाय में संलग्न लोगों को आर्थिक लाभ मिलता है।[2]

लोकशब्द बहुत व्यापक है। जिसमें दुनिया–जहान का सारा सहज रूप समाहित हो जाता है। लेकिन आज यह शब्द कुछ रूढ़ होता जा रहा है। इसका कारण अंग्रेजी का फोक शब्द भी है। इसी के शाब्दिक अर्थ के रूप में इसका प्रयोग होता है। इस शब्द का मतलब ग्रामीण इलाके से है। ग्रामीण समाज को हम 'देहात' भी कहते हैं, इसलिए आज का 'लोक' देहाती दुनिया से संयुक्त हो गया है। कई अर्थों में देहात की कलाएँ ही लोक कलाएँ भी बन गई हैं। 'हस्तशिल्प' शब्द का बोध भी 'देहातीकला' से ही होता है। यह देहाती कला देशज भी है। चूँकि आज के छोटे शहरों पर भी महानगरीय संस्कृति का असर बढ़ रहा है, इसलिए 'लोक' वहाँ भी नहीं है, या फिर लोक के टापू ठीक वैसे ही नजर आते हैं, जैसे दिल्ली जैसे महानगर के हौजरानी इलाके में आते हैं। यदि वे लोक के महानगरीय टापू हैं तो वे देहाती ही है। मजे की बात है कि आज यह देश रूप महानगरों को एंटीक व इंडीजेन्स की खोज के लिए प्रेरित करता है। उसे अपनाना अब महानगर के नागरिक को गर्व व गौरव बोध से भर देता है। इसलिए अब सड़कों के किनारे बैठे हस्तशिल्पी से लेकर एंटीक के शो–रूम महानगरीय जीवन को आकर्षित करते हैं। शहरों में लोककलाओं–हस्तशिल्पों की एक लंबी चौड़ी सत्ता भी स्थापित हो गई है। जहाँ लूट–फरेब झूठ का बोलबाला है। हस्तशिल्प का सही मायने में एक माफियातंत्र का महत्त्वपूर्ण अंग बन चुकी है। महानगरों के एंटीक हस्तशिल्प स्टोरों पर मालदार देशी और हर प्रकार के विदेशियों को लुटते–लुभाते देखकर इस माफियातंत्र का असर देखा समझा जा सकता है।[3]

मिथिला की लोक–कलाएँ जीवन के अंग–प्रत्यंग से जुड़ी रही हैं। आर्थिक क्रियाओं में भी किसी–न–किसी तरह जाने–अनजाने कलाएँ प्रवेश पा जाती है। यह कहना शायद उचित न हो कि शुद्ध सौंदर्यवादी दृष्टि से कलात्मक सृजन होता ही नहीं, परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कलाओं का उपयोगवादी पक्ष किसी भी दृष्टि से गौण नहीं है।

मशहूर समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे के ये विचार आज के मिथिला की लोक कला पर भी लागू होते हैं। चूँकि मिथिला हस्तशिल्प भी कलाओं का ही एक रूप है इसलिए कलाओं के सारे सिद्धांत इन पर भी लागू होते हैं। हस्तशिल्पों को शास्त्रीयता का दर्जा नहीं मिला है, इसलिए इन्हें लोककलाओं की ही सीमा में रखा गया है। लोककलाएँ चूँकि सीधे लोक से ही जुड़ी है, इसलिए इन पर लोक जीवन के उत्सवों दर्द, चिन्ताओं और सारे मनोभावों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। शिल्प के बाद में आर्थिक पक्ष भी जुड़ता गया, इसलिए आर्थिक दबाबों का भी इन पर सीधा पक्ष भी जुड़ने लगा। लेकिन शिल्प में आर्थिक पक्ष

हावी होने के बावजूद मूल में कला ही थी या है, इसलिए यही मनोभाव आज भी उसे प्रभावित किय हुए हैं। इसलिए मांग पर वे कलाएँ भी तैयार की जा रही हैं, जिनका सहज मनोभावों से कोई लेना–देना नहीं है।

मिथिला का भौआरा इलाका खादी कपड़ों के लिए खासा विख्यात है। लेकिन मिथिला में पड़े भयंकर बाढ़, भूकम्प एवं सूखे की त्राहि–त्राहि का असर तब हर चेहरे पर पढ़ा जा सकता है। ऐसे में भौंआरा के वस्त्र कलाकार कहाँ अछूते रह सकते थे। रोटी की चिन्ताएँ उसे दोगुनी, तिगुनी किए दे रही थी लेकिन बाढ़, भूकम्प एवं सूखे का असर उनकी डिजाइनों और डिजाइनों के लिए चुने रंगों से साफ झलक रहा था। धूसर व उदास रंगों के कपड़ों के ढ़ेर थे। चटखदार रंगों की डिजाइने कम ही तैयार हो रही थी। भौआरा के एक हस्तशिल्पी ने इसका कारण बताया था–सूखे, बाढ़ एवं भूकम्प की विभीषिका ने हमारे मन पर गहरा असर किया है भौरा के यायावार चटख रंग के कपड़े तभी बनाए जाते हैं, जब उसका आर्थिक पक्ष सामने आता है। चटख रंग रोटी के लिए जरूरी है, क्योंकि यही बिकेंगे। हस्तशिल्पी की टिप्पणी थी।[4]

सामाजिक व सांस्कृतिक बदलावों का असर ग्रामीण हस्तशिल्पियों पर भी होना ही है। लेकिन एक चीज नहीं बदलेगी, सहज जीवन से जोड़ने वाली कला। कला रहेगी तो जीवन में उत्साह रहेगा। चूँकि सामुदायिक खुलापन ग्रामीण संस्कृति की पहली शर्त है, इसलिए हस्तशिल्पी भी थोड़े बहुत बदलावों के बाद ग्रामीण जीवन का अंग बने रहेंगे।

मिथिलांचल में विवाह–शादी के अवसर पर पीढ़े, मिट्टी के हाथी, घड़े, मउरी तथा डाला की जरूरत पड़ती है। स्थानीय रीति–रिवाजों में इनका भरपूर उपयोग होता है। महानगरों में परंपराओं से जुड़े वे ही लोग शादी–विवाह के महत्त्वपूर्ण अवसर पर इन चीजों की खोज करते हैं, जिनकी जड़ें मिथिलांचल से जुड़ी है। स्थानीय स्तर पर उपयोग की जाने वाली ये चीजें स्थानीय हस्तशिल्पी मसलन बढ़ई, कुम्हार, रंगरेज, सुनार, डोम बनाते हैं। उच्च जातियों में नए जनेऊ भी इस मौके पर पहने–पहनाए जाते हैं। चूँकि विवाह खुशी का संस्कार हैं, नवजीवन तथा परंपरा का विस्तार है, इसलिए मिट्टी के हाथी व घड़े तक डिजाइनदार व चटख रंगों वाले होते हैं। उन्हें कुम्हार पूरी तन्मयता से रंगता बनाता और सजाता है। बढ़ई पीछे की डिजाइनदार बनाकर शुभ्रता का प्रतीक पीले रंग से रंगता है। मउरी को लड़ियों से रंगरेज तथा जौहरी सजाता है। डाला को, फुदकती चिड़ियों को डोम सजाता है। इन सभी चीजों के बनाव–श्रृंगार पर स्थानीय शिल्पी अपनी कला का भरपूर प्रदर्शन करता है। जनेऊ भी पीले–रंग से रंगा जाता है। लेकिन वही कुम्हार, बढ़ई, डोम मृतक–श्राद्ध के अवसर पर मिट्टी के जो हौड़े देते हैं, उस पर उदास रंग होता है, बढ़ई खाट बनाता है, लेकिन वह रंगहीन होती है। पंडित जो जनेऊ देता है, वह सादा ही होता है। वहां सादापन पर जोर रहता है। मृत्यु चूंकि विषाद व शोक से जुड़ी है, इसलिए इन चीजों का वहां स्वरूप ही बदल जाता है।[5]

ग्रामीण जीवन में आज से दो–एक दशक पहले तक हस्तशिल्प सिर्फ जीवनमयी संस्कारों, होली–दीपावली जैसे त्योहारों से ही ज्यादा जुड़े थे। इनसे जुड़े तो वे आज भी है, लेकिन संचार क्रांति एंटीक के प्रति बढ़ी ललक ने इनका आर्थिक स्वरूप बढ़ाया है यही कारण है कि आज पुरानी अनाज विनिमय पद्धति खत्म हो रही है। गांव में शादी–ब्याह, होली–दीवाली, छठ–संक्रांति पर हस्तशिल्पी जो उपकरण, पिचकारी, दीपक, बाती, टोकरी सिर्फ अनाज के जरिये देते थे, वहां अब पैसे का बोलबाला बढ़ा है। पैसा उनके लिए महत्वपूर्ण होता जा रहा है इसका एक महत्वपूर्ण कारण विदेशों तक में फैलता हस्तशिल्प का बाजार भी है। बनारसी व चंदेरी साड़ियाँ, भदोही के कालीन, असम के बेंत की कुर्सियां, हौजरानी व राजस्थान के मिट्टी के सजावटी बर्तन आदि अब सिर्फ अपने गांव–विशेष की वस्तुएँ नहीं रह गई है। उनकी पहुँच बढ़ी है, इसलिए पैसे की चाह भी बढ़ी है। इसलिए आज गांव का बढ़ई, डोम, कुम्हार, रंगरेज उस तरह से पारिवारिक अंग नहीं रहा, जिस तरह से एक दो दशक पहले तक था, उसमें थोड़ा–सा खिंचाव आया है। हालांकि समुदाय का महत्वपूर्ण अंग वह आज भी है। यदि ऐसा नहीं होता तो तीज, त्योहार व शादी–विवाह पर उसकी उसी पुरातन ढ़ंग से खोज व पूछ नहीं होती।[6]

लोक कला के माध्यम से उत्पादित या निर्मित वस्तुओं का आर्थिक आयाम भी है, इसलिए यह व्यापारिक प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं। इन कलात्मक उत्पादों का व्यापार अब देश–विदेश में होता है, जिससे इस कलात्मक उत्पादों से जुड़े लोगों को इसके व्यापार से काफी मात्रा में आर्थिक लाभ होता है। समय–समय पर ये लोग अपने उत्पादन को लेकर विदेश यात्रा भी करते हैं। अतः इसका बहुआयामी व्यापारिक महत्त्व है।

कमोबेश पूरे देश में मिथिला लोक कला व हस्तशिल्प की ये विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली कितनी ही चीजों को सजाना कलाओं की ही बदौलत संभव था। यह सच है कि दुख व उदासी के क्षणों में उदास व धूसर प्रभाव बढ़ जाता है लेकिन इसका भी किंचित असर ही दिखता है। इसका सीधा कारण यह है कि कलाएँ चूँकि दुखों को दूर करने का साधन भी है। इसलिए कई बार अपने को उबारने, भूलजाने के लिए कलाओं का सहारा लिया जाता है। मिथिलांचल के हस्तशिल्प मेले में इस क्षेत्र के कोने–कोने से लोक कलाकार अपनी उत्पादित वस्तुओं के साथ व्यवसाय एवं प्रदर्शन के लिए जमा होते हैं। सीमांचल के निचले इलाके में रहने वाला बहुत से कलाकार बांस से हर साल स्थानीय जरूरत की चीजें बनाता आ रहा है। उसका कहना था कि हर साल बाढ़ की निर्भीकता को भुलाने की खातिर बांस की खचियों का कलात्मक प्रयोग करता रहा है।[7]

निष्कर्ष

प्राचीनकाल से ही उपयोग में आने वाली हर चीज को सजाने का उपक्रम रहा है। यह कला को मांजने के अलावा जीवन की परेशानियों से युक्त होने का माध्यम भर ही है। यह कहना गलत नहीं होगा कि थोड़े बहुत अंतर के बावजूद यह विशेषता आज भी जारी है और जीवंत भी है हस्तशिल्पी कभी भी अपने शिल्प को जीवन से कटकर नहीं देख सकता। शिल्प चूंकि जीवन को संवारने व जीवन को नया रूप देने का व्यवसाय या एक कला ही है और कलाएँ जीवन से काटकर अपना अलग अस्तित्व नहीं बना सकती है। लेकिन यह सच है कि ग्रामीण स्तर पर भी जीवन में तात्कालिक संचार के आए बदलावों ने भी इस दृष्टि में बदलाव लाने शुरू किए हैं। लेकिन कलाओं पर चूँकि व्यवहारवादी पक्ष हावी रहता है, और हस्तशिल्प चूँकि लोक से जुड़ा है, इसलिए इसमें बदलाव तो आ सकता है, लेकिन उसका आधार नहीं बदलेगा। ऐसे में मूल विशेषताएँ बाँकी रहेंगी। अगर व्यापक स्तर पर आधार का आधुनिकीकरण किया जाय तथा इसके प्रति परम्परावादी दृष्टिकोण में बदलाव लाया जाए तो इसकी व्यवहारिकता के साथ–साथ व्यापारिक क्रिया में भी लाभकारी सुधार लाया जा सकता है।

संदर्भ :

1. मुल्कराज आनन्द सम्पादित, इंगलिश कवार्हली, मार्ग–बौल्यूक–3, न–3 पृ.–25
2. झा, डॉ. लक्ष्मण, मिथिला, ए यूनियन रिपब्लिक, पृ.–78
3. सिंह, विद्यापति, मिथिलाक उद्योग को व्यापार, पृ.–126–127
4. झा. डॉ लक्ष्मण एवं सिंह, डॉ. लक्ष्मीनारायण, मिथिला भाषा ओ आर्थिक स्थिति, पृ.–220
5. सिंह, डॉ. लक्ष्मीनारायण, वेल्थस ऑफ मिथिला, पृ.–221
6. वही
7. झा, डॉ. प्रबोध कुमार, इकॉनोमिक्स ऑफ नार्थ बिहार पृ.–105